शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ४

जगत से दूर

जगत से तोड़ा.... और... आत्मा से जोड़ा

जो जीव संसार-बंधन से त्रसित होकर अपने आत्मा को बंधनमुक्त करना चाहता हो, वह जगत से संबंध तोड़कर आत्मा से संबंध जोड़ता है। वह इस प्रकार:—

❀ जगत के पदार्थों से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ;

❀ मैं किसे संतुष्ट करूँ ?—और किससे संतुष्ट होऊँ ?

❀ दुनिया दुनिया में.... और मैं अपने में।

❀ मैं ज्ञान.... और पदार्थ सब ज्ञेय।

ज्ञेय, ज्ञेयरूप के स्वकीय उत्पाद-व्यय-ध्रुव में परिणमित हो रहे हैं; मैं अपने ज्ञान-स्वभाव में ही स्वकीय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से परिणमन करूँ।—ऐसा निर्णय करके धर्मी जीव, जगत के साथ का संबंध तोड़कर तथा ज्ञायकस्वभाव के साथ संबंध जोड़कर अपने आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावरूप परिणमित होता है... और सिद्धपद को साधता है। *(प्रवचनसार, गाथा १०१ के प्रवचन से)*

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२०७]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(नया प्रकाशन)

अपूर्व अवसर

श्री राजचन्द्रजी कृत एक महान अमर काव्य। इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन गुजराती भाषा में तीन बार छप चुके हैं। धर्म जिज्ञासुओं की उस रचना को पढ़ने की भारी माँग होने से उसका हिन्दी अनुवाद भी छपकर तैयार हो गया है। साथ में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा तथा लघु सामायिक पाठ भी है। पृष्ठ संख्या १५० सजिल्द, मूल्य लागत से भी कम, ८५ नये पैसे मात्र। पोस्टेज अलग।

जिसको शास्त्र ज्ञान में ज्यादा अच्छा अभ्यास नहीं है उसको भी सरलता से अच्छा ज्ञान मिलेगा। २१००, बुक छपी थी। ११००, के प्रथम से ही ग्राहक थे। इच्छुक हों, वे शीघ्र मंगवा लेवें।

सन्मति संदेश विशेषांक

पूज्य परम उपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ७३ वीं जन्म जयंती पर दिल्ली से सन्मति संदेश कार्यालय की ओर से खास भक्तिवश और धर्म प्रभावना के लिये विशेषांक प्रगट किया है, जिसमें १०० पृष्ठ उपरान्त आर्ट पेपर ऊपर १८ सुन्दर चित्र, तीर्थक्षेत्र के चित्र तथा पू० गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा जो महान धर्म प्रभावना हो रही है, उसका वर्णन, विद्वानों द्वारा स्वामीजी का परिचय तथा संक्षेप में जीवन चरित्र, श्री कुन्दकुन्दाचार्य-पद्मनन्दीनाथ-विदेह क्षेत्र में गये थे, आकाशगमन शक्ति सम्पन्न ऋद्धिधारक थे उसके आधारभूत अनेक प्राचीन शिलालेख सहित ऐतिहासिक खोज पूर्ण सामग्री दर्शक लेख, आदि खास महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह है। जो खास विद्वानों, कवियों और लेखकों के द्वारा लिखे हुये हैं, हरेक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है, मूल्य दो रुपया होने पर भी एक धर्म प्रेमी भाई द्वारा प्रचारार्थ एक रुपया में मिलेंगे, (पोस्टेज अलग)

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ४

ज्ञानी की पहिचान

[समयसार गाथा ७६ से ७९ के भेदज्ञान प्रेरक प्रवचनों से]

ज्ञानी आत्मा की पहिचान क्या? उसका चिह्न क्या?—ऐसा शिष्य का प्रश्न था; उसके उत्तर में आचार्य भगवान ने कहा कि जो ज्ञानी है, वह जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को रागादि से भिन्न जानता हुआ अपने निर्मल ज्ञानपरिणाम को ही करता है; इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं परभावों को ज्ञान के कार्यरूप से किंचित् नहीं करता; उनका तो वह ज्ञाता ही रहता है।

अब, प्रश्न उठता है कि—ज्ञानी, पुद्गलकर्म को तथा रागादि परिणामों को जानता है, तो उन्हें जानते हुए उनके साथ ज्ञानी को कर्ताकर्मपना है या नहीं? राग को जानते हुए ज्ञानी, राग का कर्ता होता है या नहीं? उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि—ज्ञानी, रागादि को जानता हुआ भी उनमें अन्तर्व्यापक नहीं होता; राग को वह अपने ज्ञान से बाह्यस्थित जानता है, इसलिये रागादि के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में वह किंचित्मात्र तन्मय नहीं होता; उसे ज्ञानस्वरूप में ग्रहण नहीं करता; उसमें एकतारूप से परिणमित नहीं होता और उस रागरूप से उत्पन्न नहीं होता। उस राग को जानते हुए उससे भेदज्ञानरूप ही परिणमित होता है; ज्ञानस्वरूप को ही स्वरूप से ग्रहण करके उसमें एकरूप से परिणमित होता है, राग से भिन्न ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है।—इसप्रकार ज्ञानादिरूप से ही उत्पन्न होनेवाले उस ज्ञानी को रागादि के अथवा पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। राग को जानने के उपयोग के समय भी उसे राग के साथ किंचित् कर्ताकर्मपना नहीं है—उस उपयोग के साथ ही कर्ताकर्मपना है।

देखो, साधक की दशा! साधक की नौका राग के आधार से नहीं चलती, वह तो

स्वावलम्बी चैतन्य के आधार से ही आगे बढ़ती है। अहा, साधक-ज्ञानी-धर्मात्मा अपने उपयोग में रागादि को किंचित्मात्र ग्रहण करते ही नहीं, तो फिर उस राग के अवलम्बन से साधक की शुद्धता में वृद्धि हो, यह कैसे हो सकता है ? चैतन्यस्वभाव के ही अवलम्बन से साधक की शुद्धता बढ़ती है—ऐसा नियम है।

जिसप्रकार पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म में पुद्गल ही व्यापक है, उसमें जीव व्यापक नहीं है; यदि जीव, पुद्गल के कार्य में व्यापक हो तो वह अजीव हो जाये। जिसप्रकार मिट्टी की अवस्थारूप घड़े में (प्रारम्भ में, बीच में या अन्त में) सर्वत्र मिट्टी ही व्यापक है; कुम्हार उसमें व्यापक नहीं है। यदि कुम्हार उसमें व्यापक हो तो कुम्हार स्वयं ही घड़ा हो जाये ! जिसप्रकार मिट्टी स्वयं घड़ा होकर उसे करती है, उसीप्रकार कुम्हार कहीं स्वयं घड़ा नहीं होता, इसलिये वह उसे नहीं करता। उसीप्रकार रागादि परिणामों में शुद्धनिश्चय से जीव की व्यापकता नहीं है। जीव तो ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानपरिणाम में ही उसकी व्यापकता है; जीव स्वयं ज्ञानरूप होकर उसका कर्ता होता है, किंतु जीव स्वयं रागरूप नहीं हो जाता, इसलिये वह राग का कर्ता नहीं है। ज्ञानी अपने आत्मा को उपयोगस्वरूप ही जानते हैं, रागस्वरूप नहीं जानते, इसलिये उनके द्रव्य में—गुण में और पर्याय में सर्वत्र ज्ञान की ही व्यापकता है, राग की व्यापकता उनमें नहीं है; अथवा उनकी पर्याय के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र उपयोग ही व्याप्त है किंतु राग कहीं भी व्याप्त नहीं है, राग तो बाह्य में ही रहता है। इसलिये ज्ञानी-धर्मात्मा को उस राग के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है, मात्र ज्ञाता ज्ञेयपना ही है। जिसप्रकार स्तंभ आदि परद्रव्य को ज्ञानी अपने ज्ञान से भिन्न जानता है, उसीप्रकार रागादि परभावों को भी ज्ञानी अपने ज्ञान से भिन्न जानता है।

प्रश्न—इसमें पुरुषार्थ क्या आया ?

उत्तर—अरे, भाई ! इसमें तो अंतर का महान वीतरागी पुरुषार्थ आता है; अनंत परद्रव्यों से और सर्व परभावों से अपने ज्ञान को भिन्न का भिन्न ही रखना, उसमें ज्ञान का अनंत पुरुषार्थ है। बाहर की दौड़-धूप में अज्ञानी को पुरुषार्थ दिखाई देता है, पहाड़ को खोदने में पुरुषार्थ मानता है, किंतु राग से पृथक् होकर ज्ञान अपने चिदानंदस्वभाव में स्थित हुआ, उसमें जो अचिंत्य सम्यक् पुरुषार्थ है, वह अज्ञानी को दिखायी नहीं देता।

निर्मल पर्याय की अनुभूति आत्मा के साथ अभेद होने से उस अनुभूति को निश्चय से आत्मा ही कहा है और रागादि भावों की उस अनुभूति से भिन्नता होने के कारण उन रागादि को

निश्चय से पुद्गल का ही कहा।—इसप्रकार भेदज्ञान की अनुभूति में ज्ञानी स्व-पर के स्पष्ट विभाग कर देता है।

देखो, यह ज्ञानी धर्मात्मा की दुकान का माल! ज्ञानी के यहाँ तो ज्ञान और राग की मिलावट से रहित शुद्ध ज्ञानरूप माल मिलेगा; ज्ञान और राग की मिलावट वे नहीं करते। जिसप्रकार ब्रह्मचर्य में रँगे हुए संतों के पास तो ब्रह्मचर्य के पोषण की ही बात मिलती है, वहाँ कहीं विषय-कषाय के पोषण की बात नहीं मिलती; उसीप्रकार जिन्होंने ज्ञान और राग के स्पष्ट विभाग कर दिये हैं और ज्ञानस्वभाव का रंग लगाया है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा के पास तो वीतरागी भेदज्ञान के पोषण की ही बात मिलती है; राग के पोषण की बात ज्ञानी के पास नहीं होती। 'राग करते-करते तुझे धर्म का लाभ होगा',—ऐसी बात ज्ञानी के पास नहीं होती। ज्ञानी तो ऐसा कहते हैं कि तेरा ज्ञान, राग से अत्यन्त भिन्न स्वभाववाला है; इसलिये तू ज्ञान को तथा राग को भिन्न-भिन्न जानकर अपने ज्ञान की ओर ढल और राग से पृथक् हो; ज्ञान की रुचि कर और राग की रुचि छोड़।

ज्ञानी अंतर्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द आदि निर्मल-पर्यायरूप से परिणमित हुए हैं, उस निर्मल पर्याय को स्वयं तन्मयरूप से जानते हैं, इसलिये उस निर्मल पर्याय के साथ तो उनको कर्ताकर्मपना है, परंतु परद्रव्य के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-आनन्दरूप जो निर्मलभाव हैं, वे ही आत्मा के परिणाम हैं और उन निर्मल भावों के आदि-मध्य-अन्त में सर्वत्र आत्मा स्वयं ही अंतर-व्यापक है। निर्मल परिणामों में राग अंतर-व्यापक नहीं है, राग तो बाह्य है; आत्मा ही निर्मल परिणामों में अंतरंगरूप से व्यापक है। इसलिये ज्ञानी को अपने निर्मल परिणामों के साथ ही कर्ताकर्मपना है, रागादि के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

अहा, ऐसे भेदज्ञान की कहानी जो अपूर्व उल्लासपूर्वक ज्ञानी के मुख से सुनता है, उसके लिये चैतन्य भण्डार खुल जाता है। श्री पद्मनन्दिस्वामी कहते हैं कि—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेत्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम्॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति प्रीतिचित्त पूर्वक, उसकी कहानी भी जिसने सुनी है, वह भव्य जीव निश्चय से भावी निर्माण का भाजन है।

और आदिनाथ भगवान की स्तुति में वे कहते हैं कि— हे भगवान्! आपने केवलज्ञान प्रगट करके अपने तो चैतन्यनिधान खोल लिये, और दिव्यध्वनि द्वारा चैतन्यस्वभाव दर्शाकर जगत के जीवों के लिये भी अचिंत्य चैतन्यनिधन खोल दिये हैं। अहा, इस चैतन्यनिधान के निकट चक्रवर्ती

के निधान को भी तुच्छ जानकर कौन नहीं छोड़ेगा ? राग को और राग के फलों को तुच्छ जानकर धर्मात्मा जीव अंतर्मुखरूप से चैतन्यनिधान को साधते हैं। सम्यग्दर्शनादि समस्त निर्मलभावों के आदि में, मध्य में और अंत में भी चैतन्य का ही अवलम्बन है, किंतु ऐसा नहीं है कि सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ में राग का अवलम्बन हो ! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् मध्य में भी राग का अवलम्बन नहीं है और पूर्णता के लिये भी राग का अवलम्बन नहीं है। आदि-मध्य या अन्त में कहीं भी निर्मलपरिणामों का रागादि के साथ कोई संबंध नहीं है, उनसे भिन्नता ही है। इसप्रकार निर्मलपरिणामरूप से परिणमित ज्ञानी को विकार के साथ किंचित् कर्ता-कर्मपना नहीं है।

राग कर्ता और निर्मलपर्याय उसका कर्म—ऐसा नहीं है; तथा ज्ञानी कर्ता और राग उसका कार्य—ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी के जो निर्मल परिणाम हैं, वे तो अंतर्स्थित हैं, और राग तो बाह्य स्थित हैं। एक ही काल में वर्तते हुए ज्ञान और राग में ज्ञान तो अंतर्स्थित है और राग बाह्यस्थित है; ज्ञानी अंतर्स्थित ऐसे अपने निर्मलपरिणाम के कर्तारूप से और बाह्यस्थित रागादि के कर्तारूप से नहीं किंतु ज्ञातारूप से ही परिणमित होते हैं। ज्ञानपरिणाम तो अंतर्मुखस्वभाव के आश्रय से हुए हैं और रागपरिणाम तो बहिर्मुख वृत्ति से—पुद्गल के आश्रय से हुए हैं। जो आत्मा के आश्रय से हुए, उन्हीं को आत्मा का परिणाम कहा और जो पुद्गल के आश्रय से हुए, उन्हें पुद्गल का परिणाम कह दिया। राग की उत्पत्ति आत्मा के आश्रय से नहीं होती, इसलिये राग, वह आत्मा का कार्य नहीं है। ऐसे आत्मा को जानते हुए ज्ञानी अपने निर्मल परिणाम को ही करता है; उसके परिणाम का प्रवाह चैतन्य की ओर बहता है, राग की ओर नहीं बहता। निर्मल परिणामरूप से परिणमित आत्मा, राग में तन्मयरूप से परिणमित नहीं होता। जिसप्रकार घड़े में सर्वत्र मिट्टी तन्मय है, उसीप्रकार कहीं राग में ज्ञानी के परिणाम तन्मय नहीं हैं।

ज्ञानी के परिणमन में तो अध्यात्मरस उछलता है। चैतन्य के स्वच्छ महल में रागरूपी मैल कहाँ से आयेगा ? ज्ञानी, राग से पृथक् का पृथक् रहकर अपनी निर्मलपर्याय को तन्मयरूप से जानता है। भेदज्ञान द्वारा छानबीन कर राग को चैतन्य से अत्यन्त भिन्न कर दिया है। कैसा भिन्न ? कि जिसप्रकार परद्रव्य भिन्न हैं, वैसे ही राग भी चैतन्य से भिन्न है।—ऐसे भेदज्ञान के बिना साधकत्व होता ही नहीं। चैतन्य को तथा राग को स्पष्ट भिन्न जाने बिना किसे साधना और किसे छोड़ना—उसका निर्णय ही कहाँ से करेगा ? और निर्णय के बिना साधकत्व का पुरुषार्थ कहाँ से प्रारम्भ होगा ? भेदज्ञान द्वारा दृढ़ निर्णय के बल बिना साधकपने का—चैतन्य की ओर का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता।

जो जीव भेदज्ञान करके राग से भिन्न निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ है, वह ज्ञानी जीव अपने निर्मल सम्यग्दर्शनादि परिणामों को निःशंक जानता है। सम्यग्दर्शन हो और खबर न पड़े - ऐसा नहीं हो सकता। धर्मी जीव अपने निर्मलपरिणाम को तथा रागादि को भी जानते हैं; परन्तु जब उपयोग राग को जानने की ओर हो, तब क्या वे राग के कर्ता होते होंगे ?—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। राग को जानने पर भी वे उसके कर्ता नहीं हैं, क्योंकि राग के साथ उपयोग को एकमेक नहीं करते और राग को उपयोग में प्रविष्ट नहीं होने देते।

धर्मी, राग को जानता है और निर्मल परिणाम को भी जानता है; किंतु उसमें इतना फेर है कि राग को जानते हुए उसके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है और निर्मल परिणाम को जानते हुए उसके साथ कर्ताकर्मपना है; अर्थात् राग को परज्ञेयरूप से जानते हुए उसके अकर्ता रहते हैं और निर्मल परिणाम को स्वज्ञेयरूप से जानते हुए उसके साथ कर्ताकर्मरूप से वर्तते हैं। राग को जहाँ शुद्ध स्वज्ञेय से भिन्न जाना, वहाँ राग की ओर के पुरुषार्थ का जोर टूट गया और पुरुषार्थ स्वज्ञेयोन्मुख हुआ। देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने की रीति कही जा रही है।

राग और ज्ञान में भेद करके जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ निर्मलपरिणामरूप कार्य और उसका ज्ञान-दोनों एकसाथ ही वर्तते हैं। निर्मलपरिणाम हों और ज्ञान उन्हें न जाने, ऐसा नहीं हो सकता; तथा भेदज्ञान हो और निर्मल परिणति न हो—ऐसा भी नहीं होता। भेदज्ञान का होना और आस्त्रवों का छूटना अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलता का प्रगट होना-उनका एक ही काल है। ज्ञान अंधा नहीं है कि अपने निर्मल कार्य को न जाने। 'हमें श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं या नहीं उसकी तो खबर नहीं है, लेकिन चारित्र का पालन करते हैं'—ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं कि—भाई, अभी तेरे श्रद्धा-ज्ञान का तो ठिकाना नहीं है, किधर जाना है, उसकी खबर नहीं है; मार्ग देखा नहीं है, तो इसप्रकार अंधा बनकर तू किस मार्ग पर चलेगा ? मोक्षमार्ग के बदले बंधमार्ग पर ही चला जायेगा। सम्यग्दर्शन होने पर अपने को खबर हो जाती है कि—मार्ग खुल गया है.... स्वभाव श्रद्धा में आ गया—अनुभव में आ गया, और अब मुझे उस स्वभाव की ही साधना करना है, उस स्वभाव में ही मुझे एकाग्र होना है-ऐसा दृढ़ निश्चय हुआ। ऐसे निश्चय के बिना मार्ग का प्रारम्भ नहीं होता।

द्रव्य-गुण और उनके आश्रय से प्रगट हुई निर्मल परिणति—यह तीनों एकाकार सुखरूप हैं, निर्विकार हैं, उनमें दुःख नहीं है, उनमें विकार का कर्तृत्व या हर्ष-शोक का भोक्तृत्व नहीं है। आहा ! ज्ञानी अपने निर्मल आनन्द का ही उपभोग करते हैं। हर्ष-शोक का वेदन स्वभाव में से नहीं आता। इसलिये स्वभावदृष्टि में ज्ञानी उसके भोक्ता नहीं हैं; निर्मलपरिणति में कर्मफल का अभाव

है। निर्मल परिणति में तो स्वाभाविक आनन्द का ही वेदन है। जो हर्ष-शोक की वृत्ति है, वह धर्मी आत्मा का कार्य नहीं है; धर्मी का आत्मा—उसके द्रव्य, गुण या निर्मलपर्याय, वह विकार का कारण नहीं है; विकार के साथ उसे कारण-कार्यपने का अभाव है, मात्र ज्ञेयज्ञायकपना ही है।

अहा! भेदज्ञानी के सम्यक् अभिप्राय में कितनी महत्ता है!! और अज्ञानी के विपरीत अभिप्राय में स्वभाव का कितना अनादर है!! उसकी लोगों को खबर नहीं है। जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ चैतन्यस्वभाव में ही स्वत्व का सम्यक्-अभिप्राय हुआ और अन्य सब स्थानों से परिणति छूटकर स्वभावोन्मुख हुई। अज्ञानी, राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि से सम्पूर्ण आत्मा को रागमय मान रहा है।

जगत के भय से नीति-निपुण पुरुष अपने धर्ममार्ग को नहीं छोड़ते। जहाँ भेदज्ञान हुआ वहाँ ज्ञानी को समस्त जगत से उपेक्षा हुई। जगत का कोई तत्त्व मेरी निर्मल परिणति का कारण नहीं है, मेरी निर्मल परिणति का कारण मेरा आत्मा ही है। अपने आत्मा के अतिरिक्त जगत के तत्त्व मुझसे बाह्य हैं; उनका मेरे अंतर में प्रवेश नहीं है, तो बाहर रहकर वे मुझमें क्या करेंगे? द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय के पिण्डरूप शुद्ध आत्मा ही मेरा अंतरंगतत्त्व है।—ऐसा जो अनुभव करता है, वही ज्ञानी है-वही धर्मी है।

गाथा ७६-७७-७८ में ऐसा कहा कि—जो ज्ञानी हुआ, वह आत्मा अपने निर्मल परिणाम को ही करता है, इसके अतिरिक्त रागादि भावों के साथ या कर्मों के साथ उसे कर्ताकर्मपना नहीं है। जो निर्मलभाव प्रगट हुआ, वह कर्मबंधन में निमित्त भी नहीं है। अब, ७९ वीं गाथा में ऐसा कहते हैं कि—पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है; अर्थात् आत्मा के शुद्धभाव, पुद्गल के अवलम्बन से प्रगट नहीं हुए हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लक्ष परद्रव्य के ऊपर नहीं होता, चैतन्य के ही अवलम्बन से वे सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। पुद्गलद्रव्य, शरीर, शरीर की क्रिया या शुभराग जो आस्रवतत्त्व है, उनके आलम्बन द्वारा सम्यग्दर्शनादि चैतन्य परिणाम कभी नहीं होते, अत: वे जीव के परिणाम के कर्ता किसी प्रकार नहीं हैं। क्या शुभराग के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है?—नहीं; यदि राग के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन हो, तब तो राग सम्यग्दर्शन में अंतर्व्यापक हो जाये;—लेकिन ऐसा नहीं है; राग को चैत्न्य के निर्मल परिणामों के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। शरीर की क्रिया, चैतन्य परिणामों का कारण हो, ऐसा भी नहीं है। चैतन्य के निर्मल परिणामों में सर्वत्र (आदि-मध्य-अंत में) चैतन्य ही व्यापक है, उसमें कहीं राग या पुद्गल व्यापक नहीं है। दर्शनमोहकर्म नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ तो क्या उसमें पुद्गलकर्म कर्ता

और सम्यग्दर्शन उसका कार्य—ऐसा है ?—नहीं; कर्म में दर्शनमोहपर्याय नष्ट होकर दूसरी जो अवस्था हुई, उसमें पुद्गल ही व्यापक है, और जीव में जो सम्यग्दर्शन हुआ, उसमें जीव स्वयं ही व्यापक है; इसप्रकार पुद्गल को ज्ञानी के परिणाम के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है। अज्ञानी को पुद्गल कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, किंतु यहाँ तो ज्ञानी के परिणाम की बात है। ज्ञानी के निर्मल परिणाम का पुद्गल कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी टूट गया है। पुद्गल के निरपेक्षरूप ही ज्ञानी अपने सम्यग्दर्शनादि भावोंरूप परिणमित होता है। अज्ञान के कारण विकार के साथ जो अनादि-कालीन कर्ताकर्मपना था, वह ज्ञानी के छूट गया है।

चैतन्यपद ही आत्मा का पद है; विकार, वह आत्मा का पद नहीं है, वह तो अपद है। ऐसे चैतन्यपद को पहिचाने, तभी भगवान सर्वज्ञदेव की सच्ची पहिचान होती है; जिनेन्द्रदेव के दर्शनों से मिथ्यात्व के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—ऐसा शास्त्रों में कहा है; किंतु वह किसप्रकार ?—भगवान सर्वज्ञदेव का आत्मा चैतन्यपिंड है, राग से रहित है—ऐसा अपना आत्मस्वरूप स्वीकार करे तो जिनेन्द्रदेव को देखा कहा जाये और तभी मोह का नाश होता है; किंतु आत्मा को राग के साथ एकाकार माने, निमित्तों से अपना भला-बुरा माने तो उसने भगवान को भी नहीं जाना है। जो राग से लाभ मानता है, वह भगवान के दर्शन नहीं करता, किंतु राग के ही दर्शन करता है, वह राग को ही देखता है, राग से भिन्न चैतन्य को नहीं देखता, इसलिये वह वास्तव में भगवान को भी नहीं देखता। क्या जीव के शुद्धरत्नत्रय को राग का जरा भी अवलम्बन नहीं है ?—तो कहते हैं कि—नहीं; जो राग के अवलम्बन से रत्नत्रय का होना मानता है, वह जीव वास्तव में राग का उपासक है, किंतु वीतराग-भगवान के मार्ग का उपासक नहीं है। ज्ञानी के शुभराग होते हैं, वह राग भी आस्रवतत्त्व हैं, बंध का कारण है—ऐसा न मानकर जो शुभराग से आत्महितरूप लाभ मानता हो, वह जीव राग से पृथक् होने का पुरुषार्थ क्यों करेगा ? अरे ! जो राग से चैतन्य की भिन्नता को पहले जानता ही न हो, वह शुद्ध आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में किसप्रकार लेगा ? ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे शुद्ध रत्नत्रय को पर का या राग का किंचित् भी अवलम्बन नहीं है; मेरा आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर अपना निर्मल परिणमन करता है, अन्य कोई उसका कर्ता नहीं है।

जिसप्रकार ज्ञानी जीव, रागादि परिणाम या परद्रव्य के परिणाम को नहीं करता; उसीप्रकार पुद्गल भी 'परद्रव्य के परिणाम' को नहीं करता; 'परद्रव्य के परिणाम' अर्थात् जीव के निर्मल परिणाम, वे पुद्गल की अपेक्षा से परद्रव्य हैं, उन्हें पुद्गल नहीं करता। जीव अपने स्वभाव

परिणामरूप परिणमित होता है और उस परिणाम में वह स्वयं ही व्याप्त होता है, पुद्गल या राग उसमें व्याप्त नहीं होते; इसलिये वह निर्मल परिणमन अजीव का (या राग का) कार्य नहीं है। पुद्गलद्रव्य अपने स्वभावरूप कार्य में व्याप्त है।

हर्ष-शोक-राग-द्वेषरूप विभाव, वह जीव के स्वभाव का कार्य नहीं है, इसलिये परमार्थ में उसे पुद्गल के स्वभावरूप कार्य कहा है। शुद्ध परिणाम की परम्परा और विकार तथा कर्म की परम्परा—इन दोनों की धारा ही बिल्कुल भिन्न है। विकार, वह कर्म का स्वभाव है, निर्मल परिणाम वह जीव का स्वभाव है। विकार जीव का स्वभाव कार्य कैसे हो सकता है? स्वभाव का कार्य तो स्वभाव जैसा ही शुद्ध होता है। अशुद्धता कहा से आयी?—तो कहते हैं कि—पुद्गल के आश्रय से आयी हुई अशुद्धता पुद्गल का ही स्वभाव है; जीव के स्वभाव में से वह अशुद्धता नहीं आयी। क्षयोपशम सम्यक्त्व में से क्षायिकसम्यक्त्व हुआ, वहाँ वह क्षायिकसम्यक्त्वरूप कार्य उस जीव का प्राप्य कर्म है, वह क्षायोपशमभाव का प्राप्यकर्म नहीं है। इसप्रकार समस्त गुणों की पर्यायों में समझना। पूर्व की निर्मलपर्याय भी अन्य निर्मल पर्याय को प्राप्त नहीं करती, तो फिर विकार या निमित्त, निर्मल पर्याय को प्राप्त करे, यह बात तो कहाँ रही? शुद्धपर्याय का अशुद्धता या परद्रव्य के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है, किंतु शुद्धपर्याय का द्रव्य के साथ ही कर्माकर्मपना है। द्रव्य के साथ पर्याय की एकता होने पर निर्मल कार्य हुआ है; द्रव्य ही अपनी शक्ति से निर्मल पर्याय का कर्ता होता है, वहाँ उसके निर्मल कार्य में विकार का तथा कर्म आदि का तो अभाव ही है। अज्ञानभाव से तो जीव ही विकार का कर्ता है, परंतु यहाँ तो ज्ञानी की पहिचान की बात है, भेदज्ञान द्वारा जहाँ अज्ञान का नाश हुआ, वहाँ अज्ञानजनित कर्ताकर्मपना भी ज्ञानी के छूट गया है; उस ज्ञानी को परद्रव्य के साथ किंचित् कर्ताकर्मपना नहीं रहा। ज्ञानी सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि निर्मल परिणामों के ही कर्तारूप से प्रकाशमान होता हुआ शोभा देता है।

ज्ञानी अपनी और पर की परिणति को भिन्न-भिन्न जानते हुए ज्ञानभावरूप से ही प्रवर्तते हैं, और पुद्गलद्रव्य अपनी या पर की परिणति को किंचित् भी नहीं जानता; रागादिभाव भी स्व को या पर को नहीं जानते, इसलिये वे भी ज्ञान से भिन्न ही हैं। इसप्रकार स्पष्ट भिन्नता होने से ज्ञान में और पर में किंचित् भी कर्ताकर्मपना नहीं है। जहाँ ऐसी भेदज्ञान ज्योति जागृत हुई, वहाँ अज्ञानजनित कर्ताकर्मपने को वह चारों ओर से अत्यन्त नष्ट कर देती है। जब तक भेदज्ञान ज्योति प्रगट नहीं हुई, तभी तक भ्रम के कारण जीव-पुद्गल का कर्ताकर्मपना भासित होता है। ज्ञानभाव में उस कर्ताकर्म प्रवृत्ति का अत्यन्त अभाव है; ज्ञानस्वभावी भगवान अपने ज्ञानमय कार्य से शोभायमान है।—इसी का नाम धर्म है तथा यही मोक्ष का मार्ग है।

कर्तृत्व

निमित्त को कर्ता मानने से क्या दोष ?

व्याप्यव्यापक संबंध, कर्ताकर्म संबंध हरेक वस्तु को अपने स्वभाव में ही होता है, भिन्न सत्तावाले अन्य द्रव्य के साथ कभी भी नहीं होता, इसलिये कर्तापना का संबंध अन्य द्रव्य के साथ नहीं हो सकता। लोकव्यवहार में पर का कर्तापन का (निमित्त कर्ता का) कथन चलता है, वह कर्तापना कहनेमात्र ही है।

श्री समयसार गाथा ३२३ की टीका में कहा है कि—

''जो कोई आत्मा (-जीव) को पर के कार्य का करनेवाला मानते हैं, वे लोकोत्तर हो तो भी लौकिकता को अतिक्रमण (त्याग) नहीं करते; क्योंकि, लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णुदेव नारकादि कार्य करता माना है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों) के मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है, इसप्रकार (दोनों में) मिथ्या सिद्धांत की समानता है, इसलिये आत्मा के पर का कर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण, लौकिक जनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।''

दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को (स्व-पर की) दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्य की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है, ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है। (समयसार गाथा ८५ का भावार्थ)

एकत्व चैतन्यस्वभाव की दुर्लभता

—आचार्यदेव कृपा करके निजवैभव से वह स्वरूप बतलाते हैं

[श्री समयसार गाथा ४-५ के प्रवचन से]

तीसरी गाथा में एकत्वस्वभाव की सुन्दरता बतलाकर चौथी गाथा में आचार्यदेव एकत्वस्वभाव की दुर्लभता बतलाते हैं:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, काम भोगबन्धन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना॥४॥

एकत्वस्वभाव के श्रवण-परिचय तथा अनुभव की दुर्लभता बतलाकर आचार्यदेव शिष्य को उस स्वभाव के श्रवण, परिचय और अनुभव के प्रति उत्साहित करते हैं। अनंत काल से श्रवण नहीं किया, इसलिये अब अनंत रुचि से-अपूर्व भाव से सुनना! पूर्व काल में रुचि के बिना सुना, उसे हम श्रवण नहीं कहते; चैतन्य की अपूर्वरुचि पूर्वक सुने, उसी को श्रवण करते हैं। श्रवण तो वास्तव में उसे कहते हैं कि जिसके फल में अनुभव हो। चैतन्य का जैसा श्रवण किया, वैसा भाव प्रगट न करे अर्थात् स्वानुभव न करे तो वास्तव में उसने चैतन्य का श्रवण नहीं किया।

काम-भोग-बंध की कथा चैतन्य के एकत्व से विरुद्ध है तथा अत्यंत विसंवादी है; तथापि वह समस्त जीवों ने अनंत बार सुनी है और चैतन्य की बात कभी नहीं सुनी। सम्यग्दृष्टि से लेकर केवली भगवान तो इसमें से बाहर निकल गये हैं; उन्होंने तो चैतन्य का अनुभव किया है। नित्यनिगोद के अनंत जीव—जिन्हें कभी कर्णेन्द्रिय प्राप्त नहीं हुई; तथापि उन जीवों ने भी अनंत बार काम-भोग की कथा सुनी है—किसप्रकार ?—कि भाव में उसी का वेदन है, इसलिये जैसा वेदन वैसा श्रवण कहा है। उनके भाव में तो विकथा का ही वेदन है, इसलिये वे वैसा ही श्रवण करते हैं—ऐसा कहा है। और दूसरे प्रकार से—जीव ने अनंत बार चैतन्य के शब्द सुने, दिव्यध्वनि का श्रवण किया, तथापि यहाँ कहते हैं कि जीव ने एकत्वस्वभाव की बात कभी नहीं सुनी; क्योंकि वैसा वेदन प्रगट नहीं किया; इसलिये वास्तव में उन्होंने श्रवण ही नहीं किया। चाहे जितना श्रवण करने पर भी विकार में ही अपना अस्तित्व मानकर उसी के वेदन में स्थित है और विकार के वेदन

से हटकर चैतन्य के वेदन में नहीं आता, तो उसने वास्तव में चैतन्य की कथा नहीं सुनी है, किंतु विकार की ही कथा सुनी है अर्थात् विकथा का ही श्रवण किया है। बाह्य में भले ही भगवान से भेंट हुई हो, तथापि भगवान की वाणी का भावश्रवण उसने नहीं किया, अंतरचैतन्य से भेंट उसने नहीं की; व्यवहार से भेंट कर-करके राग के ही वेदन में पड़ा है। जो विकल्प के वेदन में अटका, उसने विकथा का ही श्रवण-परिचय तथा अनुभव किया है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! चैतन्यस्वभाव का ऐसी रुचिपूर्वक श्रवण करना जो पहले कभी नहीं की। 'पूर्वकाल में कभी श्रवण नहीं किया'—ऐसा कहकर वर्तमान श्रवण की अपूर्वता बतलाना चाहते हैं। चैतन्य का अहित करनेवाली बात अनंत बार सुनी, तो अब यह चैतन्य का परमहित करनेवाली बात अपूर्व रुचिपूर्वक सुन! अरे, तूने दु:खदायी राग का वेदन अनंत काल तक किया, किंतु इस चैतन्य के आनन्द का वेदन कभी नहीं किया। राग की (व्यवहार की) बात में रुचि-उत्साह बतलाये और चैतन्य के वीतरागी स्वभाव की बात में रुचि न आये तो उस जीव का भाव नरक और निगोद की जाति का है अर्थात् वह संसारचक्र के मध्य में स्थित है।

देखो, इसमें उपादान-निमित्त की बात भी आ गई। निमित्तरूप से एकत्वस्वभाव के शब्द तो कानों में पड़े, किंतु उपादान में वैसा भाव प्रगट नहीं किया तो उस श्रवण को शुद्धता का निमित्त भी नहीं कहा गया और यह कहा गया कि उसने एकत्वस्वभाव की बात सुनी ही नहीं। तथा निगोद के अनंत जीवों ने शब्द नहीं सुने हैं, तथापि वेदन में काम, भोग, बंध के भाव का सेवन कर रहे हैं इसलिये उन्होंने बंध कथा अनंत बार सुनी है—ऐसा कहा।—इसप्रकार उपादान में जिसका भाव है, वैसा ही श्रवण कहा।

अरे जीव! राग और आत्मा की एकता को तोड़कर तूने कभी आत्मा का श्रवण-लक्ष या वेदन नहीं किया; राग में एकता कर-करके मोहरूपी भूत के आधीन होकर तू संसार में बैल की भाँति भार ढो रहा है; आकुलित हो-होकर मृगजल जैसे विषयों में कूद पड़ता है... और विपरीत रुचि का पोषण करनेवाले जीवों के साथ परस्पर आचार्यपना करके आत्मा का अहित करनेवाले ऐसे काम-भोग-बंधन के भाव का ही सेवन कर रहा है, इसलिये वह सुलभ है... है तो दु:खदायी, किंतु अनंत काल से सेवन कर रहा है, इसलिये सुलभ है, और चैतन्यस्वभाव का कभी सेवन नहीं किया, इसलिये वह दुर्लभ है। चैतन्य को भूलकर मिथ्यात्वरूपी भूत के आश्रित होकर आकुल-व्याकुलरूप से विषयों में ही दौड़ता है। तृष्णारूपी महान रोग से अंतर में महापीड़ा हुई है, चैतन्य के

बाहर शुभ-अशुभ विषयों में ही उपयोग को भटकाता है; चैतन्यध्येय को भूला हुआ है और बाह्य विषय तो मृगजल के समान हैं। जिसप्रकार मृगजल के पीछे दौड़ते हुए मृग को जल नहीं मिलता और प्यास नहीं बुझती; उसीप्रकार चैतन्य से बाह्य किन्हीं भी विषयों में उपयोग को चाहे जितना भटकाये किंतु बाह्यविषय तो मृगजल समान हैं उसमें सुख नहीं मिलता और जीव की तृष्णा नहीं मिटती। अरे! मुनि या आचार्य नाम धारण करके भी अनंत बार विषयों में ही मूर्च्छित होकर पड़ा है; शुभराग में धर्म मानकर जो अटका, वह भी विषयों में ही मूर्च्छित है। पर में कर्तृत्व की तथा विकार के भोक्तृत्व की बात स्वयं को तो रुचती है, इसलिये स्वयं रुचिपूर्वक दूसरों को सुनाता है और दूसरों से रुचिपूर्वक सुनता है;—इसप्रकार परस्पर आचार्यपना करता है। अंतर में शुद्ध आत्मा को स्वविषय करने की बात उसे नहीं रुचि है और वैसा कहनेवालों का साथ ही नहीं रुचा;—ऐसी विपरीत रुचि के कारण जीव को एकत्वस्वभाव की बात दुर्लभ हो गई है और काम-भोग-बंधन की बात सुलभ मालूम होती है; किंतु उसका फल तो संसार है, उसमें आत्मा का अहित है।

आत्मा का एकत्वस्वभाव तो निर्मल भेदज्ञान के प्रकाश द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है, ज्ञान को अंतर्मुख करने पर उसके प्रकाश से—स्वंसवेदन से—आत्मा स्पष्ट ज्ञात होता है; आत्मा का एकत्व अंतरंग में सदा प्रकाशमान है किंतु मिथ्यादृष्टि उसे कषायों के साथ एकमेक मानकर ढँक रहा है; जैसा द्रव्यस्वभाव है, वैसा पर्याय में व्यक्त नहीं करता; इसलिये वह तिरोभावरूप है; स्वयं अज्ञानी-अनात्मज्ञ होने से शुद्ध एकत्व आत्मा को नहीं जानता और दूसरे आत्मज्ञ ज्ञानी धर्मात्मा की सेवा-संगति नहीं की है; इसलिये जीव को वह एकत्वस्वभाव कभी श्रवण में—परिचय में या अनुभव में नहीं आया। धर्मात्मा की सेवा का अर्थ क्या?—कि धर्मात्मा ज्ञानी द्वारा कहा गया भाव समझकर अपने में प्रगट करे तो वह ज्ञानी की सेवा कहलाती है।

धर्मात्मा जैसा राग से पृथक् स्वभाव बतलाते हैं, वैसा जाने तो धर्मात्मा की सच्ची सेवा और परिचय किया कहलाता है। राग से पृथक् होकर धर्मात्मा के भाव के साथ अपने भाव की एकता कभी प्रगट नहीं की।

ज्ञानी को राग से पृथक् अपूर्व चैतन्यभाव बतलाना है; ऐसा अपूर्वभाव ध्यान में ले तो उसने ज्ञानी का आशय अपने में उतारा है और ज्ञानी की संगति-सेवा की है। ऐसी संगति-सेवा से आत्मा का अनुभव होता है। ज्ञानी के आशय से विपरीत माने तो उसने सचमुच ज्ञानी की सेवा नहीं की है।

पुनश्च, आत्मज्ञ ज्ञानी की सेवा करने की बात कही है, इसलिये सामने निमित्तरूप से ज्ञानी

ही होते हैं, और ज्ञानी कैसे होते हैं—उसकी पहिचान अपने को होना चाहिये। अकेले शास्त्र पढ़े हुए की यहाँ बात नहीं है, शास्त्र पठन तो अनंत बार कर चुका है, तथापि यदि अनुभव नहीं किया तो उसने आत्मा की बात नहीं सुनी है।

स्वयं अज्ञानी है और ज्ञानी के हृदय को नहीं जानता, ऐसे जीव को भिन्न आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। यदि ज्ञानी को पहिचाने और राग से पृथक् होकर स्वभावोन्मुख हो तो वह सुलभ है; किंतु राग की रुचि से स्वयं अज्ञानी है और ज्ञानी की सेवा नहीं करता (उनकी बात को लक्ष में नहीं लेता), इसलिये उसे एकत्व स्वभाव की प्राप्ति दुर्लभ है।

अनादि से जीव बहिर्मुखवृत्ति में ही दौड़ता है; स्वयं को वैसी ही रुचि होने के कारण शास्त्र में से भी वैसी ही बात का पोषण करता है; दूसरे अज्ञानियों का संग करके उसी बात की पुष्टि करता है, किंतु चैतन्यस्वभाव की अंतर्मुखवृत्ति कभी नहीं की; इसलिये वह दुर्लभ है। अनंत काल से स्वभाव को नहीं समझा, इसलिये वह दुर्लभ है, किंतु जब भी समझना चाहे, स्वाधीनरूप से समझ सकता है; इसलिये सुलभ है। एक जगह कहा है कि जो चैतन्य के स्वानुभव की चर्चा-वार्ता भी करते हैं, वे धन्य हैं!

एकत्वस्वभाव की दुर्लभता बतलाकर आचार्यभगवान करुणापूर्वक कहते हैं कि—हम वह एकत्वस्वभाव अपने समस्त वैभव से दर्शाते हैं:—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलंण छेत्तत्वं॥५॥

हे जीवो! शुद्धात्मस्वरूप को तुमने कभी नहीं जाना—अनुभवन नहीं किया, उसे हम स्वानुभव से दर्शाते हैं..... हे शिष्यों! तुम अपने स्वानुभव से जानना। देखो, आचार्यदेव की शैली!! ऐसी बात स्वानुभव से दर्शानेवाले हम मिले, और उसे झेलनेवाले शिष्य में वैसी पात्रता न हो, ऐसा नहीं हो सकता। 'अहो, अपूर्व बात है... हमें अपने आत्मा में नवीन-अपूर्व कार्य करना है और हमारे लिये यह नवीन-अपूर्व बात है!'—इसप्रकार अंतर से तैयार होकर शिष्य श्रवण करता है। जो शिष्य, आत्मा को समझने का पात्र होकर सुनने को खड़ा है, उसे आत्मा का स्वरूप दर्शाते हैं;—इसप्रकार वक्ता-श्रोता की तथा उपादान-निमित्त की अपूर्व संधि है। श्रोता अपूर्वभाव से श्रवण करता है। आचार्यदेव को निःशंकता है कि—हम शुद्धात्मा दर्शाते हैं और श्रोता शिष्य उसे अवश्य ही समझ लेगा।

अरे जीवो! अनंत काल से कभी आत्मा के चिदानन्दस्वरूप की कहानी रुचिपूर्वक नहीं सुनी; रागादि की ही रुचि-परिचय-श्रवण किया है। जिससे धर्म होता है, जिसमें से सुख की प्राप्ति होती है, वह तत्त्व मैं बतलाता हूँ।

'अभी तक अनेक संतों ने वह तत्त्व बतलाया था—लेकिन मैंने नहीं देखा था; इसलिये मेरे लिये तो आचार्यदेव नवीन ही बतला रहे हैं। पूर्वकाल में अनंत संतों ने चैतन्य को दरशाया है और अनंत जीव उसे समझकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं; किंतु मैं उस समय अंतर से उल्लसित नहीं हुआ, मैंने अपना स्वरूप नहीं समझा, इसलिये मैंने तो आत्मस्वरूप की बात वास्तव में कभी सुनी ही नहीं; मेरे लिये तो यह श्रवण अपूर्व है। वर्तमान श्रोता का भाव अपूर्व है, वहाँ श्रवण को भी अपूर्व कहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं अपने वर्तमान निजवैभव के आनन्दानुभव में स्थित हूँ और तुम्हें उसका मार्ग बतलाऊँगा। मात्र किसी से सुना हुआ कहूँगा—ऐसा नहीं कहते, किंतु स्वयं स्वानुभव की निःशंकतासहित कहते हैं कि—मेरा जो निजवैभव है, उसके द्वारा मैं शुद्धात्मा को दर्शाऊँगा और हे श्रोताजनों! तुम भी अपने स्वानुभव द्वारा उसे प्रमाण करना।—ऐसा कहकर उपादान-निमित्त की अपूर्व संधि की है।

वर्तमान में इस पृथ्वी पर विदेहक्षेत्र में सीमंधरनाथ तीर्थंकर परमात्मा साक्षात् विराज रहे हैं; और वहाँ अनेक गणधर-मुनि-श्रुतकेवली भगवंत विराजमान हैं; दिव्यध्वनि में चैतन्य के झरने उमड़ते हैं; वहाँ जाकर श्री कुंदकुंदाचार्यदेव आठ दिन तक रहे और यह दिव्यध्वनि का प्रवाह झेला.... इसप्रकार भरतक्षेत्र में जन्म लेकर विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर भगवान से साक्षात् भेंट करनेवाले श्री कुंदकुंदाचार्यदेव अपने आत्मा के वैभव से शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शाते हैं। अहा! उनकी शक्ति की क्या बात? उनके वैभव का क्या वर्णन करें! और शिष्य को भी साथ रखकर कहते हैं कि—हे शिष्य! मैं दर्शाता हूँ और तू अवश्य प्रमाण करना। देखो तो, एकत्व स्वभाव की कितनी रुचि है!! अहा, ऐसे दर्शानवाले मिलें... तो शिष्य भी अवश्य स्वानुभव से एकत्व स्वभाव को जान लेता है। आचार्यदेव कहते हैं कि मेरी दृष्टि शुद्ध चैतन्य पर है और तू भी उस शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर ही दृष्टि रखकर सुनना। बीच में व्याकरण के शब्दादि में कदाचित् क्षयोपशम दोष के कारण फेरफार हो जाये और तेरे लक्ष में वह आ जाये तो उसमें अटकना नहीं। जैसा हमारा भाव है, वैसा ही अपने में प्रगट करके श्रवण करना। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपूर्व संधिसहित यह बात है।

धर्मात्मा संतों का जैसा हृदय है, वैसा ही श्रद्धा में लिया, उसकी धर्मी के साथ निमित्त-नैमित्तिक की संधि हुई।

अहा, देखो तो यह वैभव! जगत के समस्त वैभव को जाननेवाला यह जो चैतन्यवैभव; उस अचिंत्य चैतन्यवैभव के समक्ष जगत का सारा वैभव तुच्छ है। पंचम काल के आचार्य, पंचम काल के जीवों को निज वैभव से शुद्ध आत्मा बतलाते हैं। आचार्यदेव कहते हैं। कि—मैं समस्त वैभव से बतलाऊँगा, यानी कुछ बाकी नहीं रखूँगा और तुम भी शुद्धात्मा को देखने के लिये सर्व पुरुषार्थ द्वारा प्रयत्न करना।

अब, चैतन्य का जो निजवैभव प्रगट हुआ, वह किसप्रकार प्रगट हुआ है, उसमें निमित्त कैसे थे, वह बतलाते हैं।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणीरूप जो शब्दब्रह्म, उसकी सेवा से हमारे निजवैभव का जन्म है। भगवान की वाणी की उपासना अर्थात् उस वाणी के वाच्यभूत जो एकत्व-विभक्त आत्मा—राग से पार तथा चैतन्य से परिपूर्ण-उसकी उपासना करके, भगवान की वाणी में से हमने जो सार निकाला है, उसे हम यहाँ दर्शाते हैं।

देखो, यह भगवान की वाणी की पहिचान भी अपूर्व प्रकार की है! राग से जो धर्म मनाये, वह भगवान की वाणी नहीं हो सकती। भगवान की वाणी तो राग से पृथक् एकत्वस्वभाव बतलाती है। अज्ञानी की वाणी से चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। अकेली वाणी की बात नहीं है, उस वाणी का भी स्वानुभवपूर्वक गुरु के निकट साक्षात् श्रवण किया है; सर्वज्ञदेव-गणधरदेव तथा आचार्य परम्परा के गुरुओं की कृपा द्वारा प्रसादरूप में हमें जो शुद्धात्मा का उपदेश प्राप्त हुआ, उससे हमें शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट हुआ है।

अहा! समयसार की वाणी की ठेठ सर्वज्ञ भगवान से संधि करके आचार्यदेव कहते हैं कि—चैतन्यरस झरती हुई भगवान की वाणी की उपासना करके उसमें से हमने शुद्धात्मा निकाला है। देखो, ऐसा आशय जो निकालता है, उसने जिनवाणी की उपासना की है; किंतु जो विपरीत आशय निकाले—राग से धर्म माने, उसने जिनवाणी की उपासना नहीं की किंतु विराधना की है।

शास्त्र का आशय शुद्धात्मा दर्शाने का है:—

''जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई,
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई।''

इसप्रकार कसौटी पर कसकर हमने जिनवाणी को पहिचानकर उसकी उपासना की है। जिनवाणी का दोहन करके शुद्धात्मारूपी मक्खन बाहर निकाला है, उसे इस समयसार में दर्शाते हैं।

जिनवाणी की उपासना के साथ अति निष्तुष-निर्बाध युक्ति के बल से हमने एकत्व-विभक्तस्वरूप का निर्णय किया है; यों ही मात्र वाणी से नहीं माना है किंतु अंतर में निर्मल ज्ञान की निर्दोष युक्ति (-नय प्रमाणरूप उपाय) द्वारा निर्णय किया है। शुद्धात्मा का जो यथार्थ स्वरूप है, उससे विपरीत कहनेवाले जो एकांतवादी विपक्ष हैं, उनका सम्यक्-युक्ति के बल द्वारा खंडन करके, एकत्वविभक्त आत्मा का स्वरूप सर्व पक्षों से भलीभाँति निश्चित किया है; ज्ञान की निर्मलता बढ़ने पर अंतर से नयी-नयी निर्दोष युक्तियाँ स्फुरित होती जाती हैं।

आगम, युक्ति, गुरु-परम्परा और स्वानुभव प्रकाश—ऐसे चार प्रकार से आचार्यदेव के निजवैभव का जन्म है।

देखो तो सही, श्री कुंदकुंदाचार्य के पीछे एक हजार वर्ष बाद होनेवाले अमृतचंद्राचार्यदेव ने निर्णय कर लिया कि भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव का निजवैभव कैसा होगा!

परमगुरु सर्वज्ञदेव तथा अपरगुरु अर्थात् गणधरादिक से लेकर हमारे गुरु तक—वे सब कैसे हैं?—कि विज्ञानघन शुद्धात्मा में लीन हैं... ऐसे गुरुओं ने प्रसादरूप से हमारे ऊपर कृपा करके—प्रसन्न होकर हमें उपदेश दिया... काहे का उपदेश दिया? कि शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया।

बारह अंग तथा चौदह पूर्व में क्या कहा?—कि शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया है। हमारे ऊपर कृपावृष्टि करके हमारे गुरुओं ने हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया। हम पर अनुग्रह करके, प्रसन्न होकर, प्रसादरूप से हमें शुद्धात्मा समझाया.... उसके द्वारा हमें शुद्धात्मा का निजवैभव प्रगट हुआ है।

इसप्रकार निरंतर झरता हुआ—आस्वाद में आता हुआ जो सुंदर अतीन्द्रिय आनन्द, उस आनन्द की छापवाले, प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से निजवैभव का जन्म है। ऐसे समस्त वैभव से मैं शुद्धात्मा दर्शाता हूँ, उसे तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। देखो, ऐसा मुनि को जैनधर्म में साधुपद और आचार्यपद होता है; अन्य को नहीं।

किसकी उपासना तथा किसके अनुग्रह से निजवैभव प्रगट हुआ है, वह बतलाया; इसलिये निजवैभव के लिये किसकी उपासना करने योग्य है तथा कैसे गुरु के आग्रह से वह प्राप्त होता है, वह भी बतलाया।

श्रीगुरु ने प्रसन्न होकर, अनुग्रह करके उपदेश दिया; कैसा उपदेश दिया?—कि शुद्धात्मा

का। .....गुरु की कृपा से जो शुद्धात्मा का उपदेश मिला, उससे निजात्मा की सम्पदा प्रगट हुई है। आचार्यदेव कहते हैं कि—मेरे गुरुओं ने जैसा आत्मा बतलाया, वैसे आत्मा के आनन्दसहित स्वसंवेदन से मेरा निज-वैभव प्रगट हुआ है... हमें स्व-संवेदन में निरंतर सुंदर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है; उस आनन्द से उछलते हुए स्व-संवेदन से आत्मवैभव प्रगट हुआ है। देखो तो सही यह अनुभवदशा!! अनुभव के ऐसे वैभव से मैं शुद्ध आत्मा बतलाता हूँ—ऐसा कहते हैं। आनन्दसहित स्वसंवेदन चौथे गुणस्थान में भी होता है, किंतु मुनिदशा में तो वह अतिप्रचुर होता है। ऐसी मुनिदशा में झूलते हुए आचार्यदेव की यह वाणी है। अहा, हम सो रहे थे और श्रीगुरु ने हमें जगाकर शुद्धात्मा बतलाया... उसके स्वसंवेदन से हमारे अंतर में प्रचुर आनन्द का सागर उमड़ पड़ा,.... इस प्रकार चैतन्यानन्द का वेदन करते-करते उस आनन्द के प्रतीकरूप स्वसंवेदन से जो निजवैभव प्रगट हुआ, उस निजवैभव द्वारा मैं शुद्धात्मा बतलाता हूँ.... देखो तो पुरुष की प्रमाणता!! 'पुरुष के प्रमाण में वचन प्रमाण होते हैं।'

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं जो शुद्धात्मा बतलाता हूँ, उसे स्वानुभव से जानकर तुम प्रमाण करना.... मात्र शब्दों से नहीं, विकल्प से नहीं, किंतु अंतर के स्वानुभव से प्रत्यक्षपूर्वक प्रमाण करना। अक्षर-मात्रादि में कहीं फेर पड़ जाये तो दोष ग्रहण करने में सावधान नहीं होना; सावधानी तो शुद्धात्मा की ओर ही रखना। अनुभव की बात में तो भूल नहीं पड़ेगी, क्योंकि स्वानुभव से प्रगट हुए वैभव द्वारा मैं कहता हूँ किंतु शब्द की विभक्ति आदि में कहीं फेर पड़ जाये तो उसे ग्रहण करने में सावधान मत होना; क्योंकि व्याकरणादि का हेतु नहीं है, हेतु तो शुद्धात्मा बतलाने का ही है; इसलिये अंतर में शुद्धात्मा की ओर परिणमित होकर प्रमाण करना। इस शास्त्र में स्वसंवेदनरूप अर्थ की प्रधानता है। शब्दों पर भार न देना किंतु उसके वाच्यभूत शुद्धात्मा को लक्ष में लेकर उसका अनुभव करना। देखो तो यह रीति! शास्त्र पढ़ने की रीति भी साथ ही बतला दी है।—इसप्रकार पाँच गाथाओं द्वारा उत्तम भूमिका करके, फिर छठवीं गाथा में आचार्य भगवान ने ज्ञायकभावरूप शुद्धात्मा दर्शाया है।

साधक की नौका सिद्धपुरी में पहुँच जाती है

सिद्ध भगवान जैसे ध्रुव सामर्थ्यवान अपने आत्मा को पहिचानकर, उसकी दृष्टि से साधक की नौका मुक्तिपुरी में पहुँच जाती है। जिसप्रकार समुद्र में ध्रुवतारे के लक्ष से जहाज चला जाता है, उसीप्रकार संसार समुद्र में ध्रुवचैतन्य के विश्वासपूर्वक साधकों की नौका तैरती जाती है। ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि के ध्येयरूप रखकर साधक आत्मा की नौका निःशंकरूप से सिद्धपुरी की ओर चली जाती है।

हे जीव! संयोग और क्षणिकभाव नष्ट होने पर भी तेरा ध्रुव चिदानंदस्वभाव नष्ट नहीं होता या उसमें से कुछ घटता नहीं है; इसलिये उस ध्रुव-स्वभाव का आश्रयकर.... मोक्ष के लिये उस पर दृष्टि लगा.... उस ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि लगाने से उसमें से सदैव ज्ञान-आनन्द मय निर्मल पर्यायें ही निकलती रहेंगी..... इसप्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभाव के विश्वास से ही तेरी नौका संसार-समुद्र से पार होकर सिद्धपुरी में पहुँच जायेगी।

चौथा रत्न (गाथा २७४)

मोक्ष के साधनरूप शुद्धोपयोग का अभिनंदन करता है

सर्वज्ञ भगवान की वाणीरूप जो प्रवचन, उसका सार इस 'प्रवचनसार' में है। और उसमें भी पाँच रत्नों समान अंतिम पाँच गाथाएँ तो शास्त्र की कलगी के चूड़ामणि समान हैं; वे अरिहंतदेव के शासन का समस्त सार संक्षेप में प्रकाशित करती हैं। पहले संसारतत्त्व बतलाया, फिर मोक्षतत्त्व और मोक्ष का साधनतत्त्व बतलाया। अब, चौथे रत्न द्वारा आचार्यदेव मोक्ष के साधनरूप जो शुद्धोपयोग उसका सर्व मनोरथ के स्थानरूप से अभिनन्दन करते हैं:—

सुद्धस्सय सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्सय णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमोतस्स॥२७४॥

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानंन्।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै॥२७४॥

अहो, मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ शुद्धोपयोग द्वारा पूर्ण होते हैं। शुद्धोपयोग में लीनता से सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं। मोक्षार्थी को अपने चैतन्य की पूर्ण शुद्धता–केवलज्ञान और सिद्धपद, इनके अतिरिक्त अन्य क्या मनोरथ होंगे? संसार संबंधी कोई मनोरथ मोक्षार्थी–धर्मात्मा को नहीं होते। अहा, आत्मस्वभाव के शांतरस को प्राप्त करानेवाली यह बात है!

जिसमें रत्नत्रय की एकता है, ऐसी एकाग्रतारूप जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रमणपना, वह शुद्धोपयोगी को ही होता है; फिर श्रेणी चढ़ने पर उस शुद्धोपयोगी को ही केवलज्ञान तथा केवलदर्शन होता है। देखो, मोक्षार्थी जीव के मनोरथ ऐसे होते हैं! प्रथम तो शुद्ध आत्मस्वरूप को समस्त परद्रव्यों से और रागादि से भिन्न जाना है, तत्पश्चात् उसमें शुद्धोपयोग द्वारा लीन होकर साक्षात् मोक्षमार्गी श्रमण कब बनूँ..... और कब केवलज्ञान—केवलदर्शन प्रगट करके सिद्धपद को प्राप्त करूँ... !—ऐसे सर्व मनोरथ की सिद्धि का स्थान शुद्धोपयोग है। अहो, ऐसा शुद्धोपयोग अभिनन्दनीय है, वही मोक्ष का साक्षात् साधन है। ऐसे शुद्धोपयोग को नमस्कार हो,.... किसप्रकार? कि जिसमें से स्व–पर का विभाग अस्त हो गया है, ऐसा नमस्कार... अर्थात् नमस्कार करनेवाला स्वयं ही वैसे शुद्धोपयोगरूप से परिणमित हो जाता है; इसलिये उसमें स्व–पर का भेद नहीं रहता।

साक्षात् मोक्षमार्ग तो शुद्धोपयोगरूप एकाग्रता है। जिसे शुद्धोपयोग की खबर भी नहीं है और शुभराग को साधन मानता है, उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। शुद्धोपयोग अर्थात् चैतन्य में एकाग्रता। अहा, अचिंत्यशक्तिवान, अतीन्द्रिय आनन्दमय ऐसा केवलज्ञान, वह चैतन्य में एकाग्रता से ही होता है। एकाग्रतारूप जो शुद्धोपयोग, उसी से केवलज्ञान के मनोरथ पूर्ण होते हैं।

सहजज्ञान एवं आनन्द के प्रतीकरूप जो निर्वाण, वह शुद्धोपयोगी को ही होता है। जिसे कोई विघ्न नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं, ऐसे सहजज्ञान–आनन्द की छापवाला दिव्यनिर्वाण शुद्धोपयोगी को ही होता है। और टंकोत्कीर्ण परमानन्ददशा में स्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर ऐसे सिद्ध भगवान, वे 'शुद्ध' ही होते हैं अर्थात् शुद्धोपयोगी जीव ही उस सिद्धदशा को प्राप्त करता है। शुद्धोपयोग में साक्षात् सिद्धपद के दर्शन होते हैं; सिद्धपद का साक्षात् साधन शुद्धोपयोग है। अहा, शुद्धोपयोग सर्व मनोरथ की सिद्धि का स्थान है। राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षार्थी के मनोरथ को पूर्ण करे। निर्विकल्प प्रतीति तथा ज्ञान के बिना जिसका पार नहीं पाया जा सकता, ऐसा गंभीर जो सिद्धपद, उसकी प्राप्ति शुद्धोपयोगी को ही होती है। ऐसा शुद्धोपयोग अभिनन्दनीय

है—आदरणीय है; वह मनोरथ का स्थान है। जिसप्रकार बालक के मन के सर्व मनोरथ माता के निकट पूरे होते हैं, उसीप्रकार मोक्षार्थी धर्मात्मा के सर्व मनोरथ शुद्धोपयोग द्वारा पूर्ण होते हैं। व्यवहार के अवलम्बन द्वारा केवलज्ञान नहीं हो सकता; उसका साधन तो एक 'शुद्धोपयोग' ही है; अन्य नहीं।—ऐसा भगवान अरिहंतदेव के शासन का सार है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे, वचन के विस्तार से अब बस होओ! आत्मा की पवित्रता के जितने उत्तम स्थान हैं, उन सबकी प्राप्ति जिससे होती है, ऐसे शुद्धोपयोग को अभेदभाव से नमस्कार हो। आत्मा स्वयं ही जहाँ शुद्धोपयोगरूप से परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं नमस्कार कर्ता और दूसरा कोई नमस्कार करनेयोग्य—ऐसा स्व-पर का विभाग नहीं रहा शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होकर स्वयं ही अपने में अभेदरूप से नमित हुआ, उस नमस्कार में स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है, भाव्य-भावक दोनों अभेद हुए हैं।—इसप्रकार नमस्कार होता है! अर्थात् साक्षात् शुद्धोपयोगरूप परिणमन होता है!

अहा, मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ का स्थान हो तो यह एक शुद्धोपयोग ही है; उसे एक शुद्धोपयोग का ही मनोरथ है। विकल्प उठे, उसका मनोरथ नहीं है। शुद्धोपयोगी संत-मुनियों को ही सच्चा साक्षात् श्रामण्य है, शुभोपयोगी मुनियों को तो उनके पीछे-पीछे (गौणरूप से) लिया गया है। जिन्हें शुभोपयोगी मुनि कहा, वे भी छट्ठे गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत शुद्धपरिणतिवाले हैं; अज्ञानी को शुभोपयोग हो, उसकी बात नहीं है। छट्ठे गुणस्थान में शुभोपयोगी मुनि को जितनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपरिणति वर्तती है, उतना ही मोक्षमार्ग है; जो शुभराग है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जो जीव ऐसी श्रद्धा न करे और राग को मोक्षमार्ग माने, उसे तो अभी सम्यग्दर्शन की भी शुद्धि नहीं है; जिसे मार्ग की खबर भी न हो, वह मार्ग में आयेगा कहाँ से?

देखो, यह परम सत्यमार्ग! भगवान सीमंधर परमात्मा वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं; वहाँ जाकर भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने आठ दिन तक दिव्यध्वनि का श्रवण किया और फिर इन शास्त्रज्ञें में परम सत्यमार्ग की रचना की है। अहा, कितना सत्यमार्ग! कितना स्पष्ट मार्ग! कितना प्रसिद्ध मार्ग!! आजकल लोगों में मार्ग संबंधी बड़ी गड़बड़ी चल रही है... लेकिन क्या किया जाये? काल ही ऐसा है! फिर भी सत्यमार्ग तो जो है, वही रहेगा।

अरे जीव! तू ऐसे मार्ग को पहिचानकर उसका मनोरथ तो कर! संसार के मनोरथ अनंत काल तक किये; अब इस मोक्षमार्ग को पहिचानकर उसका सम्यक् मनोरथ कर। शुद्धोपयोगी संत

मुनिवर सकल महिमा का स्थान हैं; सर्व मनोरथ के स्थानरूप से वे अभिनन्दनीय हैं। मुमुक्षु के सर्व मनोरथ की सिद्धि शुद्धोपयोग द्वारा होती है; इसलिये उसका अभिनन्दन करते हुए अति आसन्न भव्य महा मुमुक्षु आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं ऐसे शुद्धोपयोग को अभेदरूप से भाकर नमस्कार करता हूँ अर्थात् मैं उसरूप परिणमित होता हूँ। 'वाचक' जैसा परिणमित होता है, वैसा ही अंतर में 'वाच्य' भी परिणमित हो रहा है; इसप्रकार संधिबद्ध अलौकिक रचना है; वाचक-वाक्च की संधि नहीं टूटती।

देखो तो, मोक्षमार्ग को कैसा स्पष्टरूप से खोलकर प्रकाशित किया है:—

— शुद्धोपयोग ही मोक्ष का साधन है; अन्य साधन नहीं है।

— शुद्धोपयोग ही अभिनन्दनीय है; अन्य अभिनन्दनीय नहीं है।

— शुद्धोपयोग ही मोक्षार्थी का मनोरथ है; अन्य मनोरथ नहीं है।

— मोक्ष के साक्षात् साधनरूप श्रमण्य शुद्धोपयोगी को ही होता है; अन्य को नहीं होता।

— केवलज्ञान और केवलदर्शन शुद्धोपयोगी को ही होता है; अन्य को नहीं होता।

— परम ज्ञानानन्दरूप निर्वाणपद-सिद्धपद शुद्धोपयोगी को ही होता है; अन्य को नहीं होता।

अधिक क्या कहें! इतने से ही बस हो। सर्व मनोरथ के स्थानरूप ऐसे इस शुद्धोपयोग को तद्रूप परिणमनपूर्वक अभेदभाव से नमस्कार हो। इसप्रकार, शुद्धोपयोग ही मोक्ष साधन है—ऐसा कहकर चौथे रत्न में उसका सर्व मनोरथ के स्थानरूप से अभिनन्दन किया... नमस्कार किया!

पाँचवाँ रत्न (गाथा-२७५)

शिष्यजनों की शास्त्र के फल से संधि करता है।

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्ताः।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति॥२७५॥

शास्त्र को समाप्त करते हुए आचार्यदेव उसका फल बतलाते हैं। शास्त्र का फल क्या ? कि ज्ञानानन्द से भरपूर अभूतपूर्व ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति, वह शास्त्र का फल है, वह दिव्यध्वनिरूप प्रवचन का सार है। प्रवचनसार में कहे हुए इस उपदेश को जो जीव जानता है, वह ऐसे फल को प्राप्त करता है।

उपदेश जानने की बात कही, उसमें मात्र शब्द जानने की बात नहीं है, किंतु श्रुतज्ञान को अंतर्मुख करके उसके प्रभाव द्वारा केवल आत्मा का अनुभव करना, वह इस शास्त्र का उपदेश है और ऐसा जिसने किया उसी ने वास्तव में यह उपदेश जाना है। यदि श्रुतज्ञान को अंतर्मुख नहीं किया तो इस शास्त्र का उपदेश जाना ही नहीं। अहा, संतों का वीतरागी उपदेश भावश्रुत के बिना नहीं जाना जा सकता। इस उपदेश के अनुसार भावश्रुत को प्रगट करके जो शुद्धात्मा का अनुभवन करता है, वह जीव, ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण ऐसे अभूतपूर्व सिद्धपद को प्राप्त करता है, वह इस शास्त्र को जानने का फल है।

देखो, शास्त्र को जानने का फल बतलाते हुए आचार्यदेव ने शास्त्र को जानने की रीति भी बतलाई है। शास्त्र का फल सुनकर शिष्यजनों को उत्साह जागृत होता है। शास्त्र को जानने का फल अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभाव की प्राप्ति है; किंतु शास्त्र को जानना किसप्रकार ?—श्रुतज्ञान उपयोग के प्रभाव से शुद्ध आत्मा के अनुभवसहित जो शिष्य इस उपदेश को जानते हैं, वे अपूर्व आत्मा को प्राप्त करते हैं। देखो, किसी निमित्त का या शुभराग का प्रभाव नहीं कहा, किंतु अपने श्रुतज्ञान उपयोग का ही प्रभाव कहा। जहाँ श्रुतज्ञान उपयोग को अंतरोन्मुख किया, वहाँ समस्त शास्त्रों के अर्थ उसमें समा गये। इसप्रकार जो श्रुतज्ञान द्वारा केवल निजात्मा का अनुभव करते हैं, उन्हीं ने वास्तव में शास्त्रों के उपदेश को जाना है और वे ही शास्त्र के फलरूप परमानन्द को प्राप्त करते हैं।

भगवान द्वारा सेवित तथा उपदेशित मार्ग, संतों का हार्द और शास्त्रों का मर्म यही है कि अपने उपयोग को अंतरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभवन करना। यही परमानन्द की प्राप्ति का पंथ है। ऐसे अनुभव की ओर यदि ज्ञान का उपयोग न लगाये तो शास्त्रों का पठन निरर्थक है; शास्त्र का सार या फल उसे प्राप्त नहीं होता। उपयोग को रागादि से भिन्न करके, अंतर्मुख होकर, जो शिष्य स्वानुभव करता है, उसी ने संतों के उपदेश को ग्रहण किया है। इसप्रकार सम्यक्प्रकार से शास्त्र के उपदेश को जाननेवाला शिष्यवर्ग अपूर्व आनन्द से भरपूर आत्मिक सिद्धि को प्राप्त करता है। इसप्रकार यह पाँचवाँ रत्न, शिष्यजनों को शास्त्र के फलभूत परम आनन्द के साथ जोड़ता है।

इस 'प्रवचनसार' ने क्या कहा? और इसके श्रोता मुमुक्षु ने क्या किया?—प्रवचनसार ने जो कुछ कहा है, तदनुसार जो करें, उसी ने प्रवचनसार को यथार्थरूप से सुना है। सर्वप्रथम प्रवचनसार ने क्या कहा?—कि श्रुतज्ञान को अंतर्मुख करके केवल आत्मा का अनुभव करने को कहा, अर्थात् शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होने को कहा। और शिष्यजनों ने उसे ग्रहण करके शुद्धात्मोन्मुख होकर शुद्धोपयोगरूप से परिणमन किया।—ऐसा करनेवाले शिष्यजन शास्त्र के फलरूप अथवा सर्व प्रवचन के साररूप ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

शास्त्र में निश्चय और व्यवहार, शुद्ध और शुभ दोनों प्रकार का स्वरूप बतलाया है; किंतु उसमें तात्पर्य तो एक ही बतलाया है कि—शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होना। जो ऐसा तात्पर्य निकाले, उसी ने शास्त्र पठन किया है; जो इससे विरुद्ध तात्पर्य निकाले, उसने शास्त्र पठन नहीं किया, किंतु अपनी स्वच्छन्द कल्पना से तात्पर्य निकाला है, शास्त्र का या संतों के हृदय का ऐसा तात्पर्य है ही नहीं। जो शास्त्र का विपरीत अर्थ करता है और तात्पर्य भी विपरीत निकालता है, वह जीव शास्त्र के फल को कहाँ से प्राप्त करेगा? शास्त्र तो भेदविज्ञान द्वारा उपयोग को चिदानंद-स्वभावोन्मुख करना कहते हैं—**ऐसा तात्पर्य समझकर जिसने अपना उपयोग स्वोन्मुख किया, उसने शास्त्र का भावश्रवण किया है और वह जीव शास्त्र के फलरूप परमानन्द से भरपूर अभूतपूर्व मोक्षपद को प्राप्त करता है।—यह अरहंतदेव के शासन का संक्षिप्त रहस्य है; अन्य जो कुछ है, वह सब इसी का विस्तार है।**—इसप्रकार भगवान अरहंतदेव के समग्र शासन को संक्षेप में सर्व पक्षों से प्रकाशित करनेवाले यह पंचरत्न जयवंत हों!

जन्म-मरण का नाश करनेवाली
भगवान की भक्ति

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की स्तुति कब हुई कहलाती है? मात्र शुभराग द्वारा वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती। भगवान जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने में जितने अंश में प्रगट करे, उतने अंश में भगवान की सच्ची स्तुति होती है। जड़ देह और भगवान आत्मा भिन्न हैं; इसलिये शरीर की स्तुति से भगवान आत्मा की स्तुति परमार्थतः नहीं होती; भगवान के आत्मा की स्तुति से ही परमार्थस्तुति होती है; और परमार्थ में तो जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही अपना आत्मा है; इसलिये अपने शुद्ध ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता ही भगवान की परमार्थस्तुति है, वही धर्म है; और उसके लक्ष से बीच में भगवान की ओर का विकल्प उठे, वह व्यवहारस्तुति है; उससे पुण्य-बंधन है। जो अभी सर्वज्ञभगवान की दशा को भी नहीं जानता और सर्वज्ञभगवान जैसे अपने आत्मा के स्वभाव को नहीं पहिचानता—ऐसे जीव को सच्ची स्तुति नहीं होती; वह जीव भगवान की ओर का जो शुभराग करता है, उसे यहाँ देहस्तुति कहा जाता है। क्योंकि जिसे राग के साथ एकत्वबुद्धि है, उसे देह के साथ एकत्वबुद्धि भी बनी ही है; इसलिये वह देह की स्तुति करता है। देह और राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा को तो वह पहिचानता नहीं है, तो फिर उसे वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति कहाँ से होगी? भगवान का आत्मा, देह और राग से रहित चैतन्यमूर्ति है; वैसा ही मेरा आत्मस्वभाव है—ऐसा भान करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने भगवान की सच्ची स्तुति की, वह भगवान का भक्त हुआ।

जो अल्पज्ञ प्राणी है और जिसे वीतरागता की प्रीति है, उस जीव को वीतराग भगवान के प्रति भक्ति का राग आये बिना नहीं रहेगा। वहाँ भगवान के भक्त को भान है कि जैसा वीतराग केवली भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है; भक्ति करने में जो राग होता है, वह पुण्यबंध का कारण है; वह राग मेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसा भान करना ही भगवान की प्रथम परमार्थस्तुति है। परंतु भगवान पाँच सौ धनुष ऊँचे, भगवान कंचन-वर्ण—ऐसे वर्णन द्वारा भगवान आत्मा की परमार्थस्तुति नहीं होती; क्योंकि वह तो देह का वर्णन है। यदि उस समय देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव का लक्ष हो तो उस स्तुति को भगवान की व्यवहारस्तुति कहा जाता है। उस व्यवहारस्तुति से पुण्य और आत्मस्वभाव की प्रतीतिरूप जो भक्ति है, वह धर्म है; उस भक्ति से जन्म-मरण का

नाश होता है। यदि आत्मा के परमार्थस्वभाव को न पहिचाने तो भगवान की भक्ति से जन्म-मरण दूर नहीं होते; उसने वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं की है परंतु राग की भक्ति की है।

साधक धर्मात्मा को भगवान की दोनों प्रकार की स्तुति होती है; परंतु उसमें व्यवहारभक्ति का जो शुभराग है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते, अहितकर मानते हैं। जो राग को रखनेयोग्य माने, वह जीव वीतराग का भक्त नहीं है परंतु मिथ्यादृष्टि है। वीतराग का भक्त, राग का आदर कैसे कर सकता है ?

[—प्रवचन से]

चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य की निजमहिमावंत

दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणरूपी मंत्री सेवा करते हैं ऐसे भावदर्शक

परमात्म पुराण

(गतांक नं० २०६ से आगे)

दर्शन (गुणरूपी) मंत्री परमात्मा राजा के कैसे सेवे ?

परमात्म राजा की प्रजा अनंत गुण शक्ति और अनंत गुण पर्यायरूप संपूर्ण राजधानी दर्शन द्वारा देखने से देखने में आई, तब साक्षात (प्रत्यक्ष) हुई। दर्शन न देखता, तब अदृश्य होने से ज्ञान कहाँ से जानता है। देखने-जानने में न आवे, तब ज्ञेय वस्तु न होवे, तब सर्वज्ञ परमातम का पद न रहता। इसलिये दर्शन गुण देख-देखकर संपूर्ण सर्वस्व को साक्षात् करता है (अर्थात् दर्शन गुण का व्यापार सामान्य प्रतिभास में अपना और सर्व वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप सर्वस्व एक साथ सामान्य सत्‌रूप प्रत्यक्ष देखता है।)

ज्ञान को देखता है, तब ज्ञान अदृश्य नहीं होता, तब ज्ञान का अभाव न होने से ज्ञान का सद्‌भाव रहता है।

वीर्य को देखता है, तब वीर्य अदृश्य नहीं होता है, तब ज्ञान वीर्य को जानता है। तब साक्षात् प्रत्यक्ष होता है।

इसप्रकार अनंत गुण परमात्मा के रखने को दर्शन कारण है, दर्शन निराकाररूप नित्य है, वह निराकार शक्ति बतलाता है। (चिदानंद परमात्मा राजा) सामान्य सत् निर्विकल्पपना देखता है। उसमें निर्विकल्पपना देखता है। उसमें निर्विकल्प सेवा दर्शन (गुण मंत्री) की है, जो ऐसी निर्विकल्प सेवा दर्शन गुण न करता तो निर्विकल्प सत् न रहता। साक्षात्कार निर्विकल्पता दर्शन ने दिखाई है। निर्विकल्प ही वस्तु का सर्वस्व है (समस्त धन है)।

प्रथम सामान्य भाव होवे तो विशेष होवे, सामान्य भाव बिना विशेष न होय। सामान्य, विशेष सहीत है। इसलिये दर्शन निर्विकल्प प्रगट करता है, वहाँ विशेष की भी सिद्धि होती है, क्योंकि सामान्य होने से विशेष नाम पाता है, इसलिये वस्तु की सिद्धि दर्शन गुण करता है। ऐसी सेवा करता है।

वह दर्शन गुण (मंत्री) सब गुणों में बहुत बारीकी (-सूक्ष्मता) को धारण करता है, क्योंकि विशेष में बहु(त्व) पाते हैं। दर्शन सामान्य अवलोकन मात्र में सब सिद्धि तो है परंतु इनका अंग अति सूक्ष्मरूप निर्विकल्पदशारूप निराकाररूप, अक्रियरूप, अमूर्तिरूप, अखंडितरूप उसमें जब गम्य होय, तब सब सिद्धि होय। बिरला जन दर्शन में गम्य (भाव भासन) करते हैं, संसार अवस्था में विशेष (विस्तार से) कहे, तब सब जाने। सामान्य मात्र में कोई बिरला पावे, विशेष में बहुत पाते हैं। यह कथन संसार अपेक्षा का है। दर्शन की सिद्धि सामान्य बतलाने के लिये कहा है।

दृष्टांत—कोई अपने प्रभु के पास जावे तो प्रथम देखता है, तब सब क्रिया होती है। प्रभु को न देखे तो कुछ भी नहीं होवे, उसीप्रकार परमात्म राजा को देखने से सब सिद्धि है। जिसप्रकार निर्विकल्प रीति द्वारा दर्शन मंत्री (परमात्म राजा को) सेवन करे, तब उसको निर्विकल्प आनन्दरूपी फल होता है।

ज्ञान मंत्री परमात्म राजा को किसप्रकार सेवन करे?

(प्रत्येक आत्मद्रव्य अपना पूर्ण परमात्मस्वभाव सहित है। उसके वैभव का वर्णन)

परमात्म राजा का जो वैभव है, उसका विशेष (विस्तार) जिसमें अनंत गुण की अनंत शक्ति अनंत पर्याय एक-एक गुण की पर्याय में अनंत नृत्यु, नृत्य में अनंत थट, थट में अनंत कला, कला में अनंत रूप, रूप में अनंत सत्ता, सत्ता में अनंत भाव, भाव में अनंत रस, रस में अनंत प्रभाव, प्रभाव में अनंत विभव, विभव में अनंत ऋद्धि, ऋद्धि में अनंत अतीन्द्रिय अनाकुल अनुपम

अखंडित स्वाधीन अविनाशी आनंद, इन सब भावों को ज्ञान जाने, तब व्यक्त होवे और ऐसे उत्तम नाम पावे। (उपरोक्त जैसा वर्णन कविवर श्री बनारसीदासजी ने किया है)।

ज्ञान न जाने तब वेदन (अनुभव) करना न बने, अनुभव न होवे, तब तक आत्मा के यह वैभव हुआ न हुए के समान है, इसलिये ज्ञान अनंत गुण पर्याय के समुदाय को प्रगट (प्रसिद्ध) करता है, तब परमात्मा का पद प्रगट करता है, परमात्म पद प्रगट होता है।

ज्ञान परमात्मा को जाने, तब सर्वस्व परमात्मपद को प्रगट होवे। ज्ञान, त्रिकालवर्ती पदार्थों को जाने, ऐसी ज्ञान की शक्ति है। स्वसंवेदन ज्ञान है, इसलिये ज्ञान समस्त स्व-पर का विशेष भव बतलानेवाला है, वह ज्ञान सर्व को प्रगट करता है, जानता है। परमात्म राजा के प्रभुत्व को वह ज्ञान प्रगट करता है। ज्ञान बिना परमात्म राजा की विशेष विभूति कौन प्रगट करे? ज्ञान ही प्रगट करो।

ज्ञान मंत्री को ज्ञायकतारूप जानकर परमात्मा राजा ने सबमें प्रधानता दी। राजा का राज्य ज्ञान द्वारा है। जैसे किसी के घर में निधान है, न जाने तो निधान हुआ न हुआ बराबर है। तैसे परमात्म राजा का अनंत निधान ज्ञान, न जाने तो सब वृथा है, इसलिये अनंत संपूर्ण पद की सिद्धि ज्ञान मंत्री से है। सत्ता में शाश्वतपना नामक लक्षण ने गुणों को शाश्वत किया, उत्पाद, व्यय को धरे द्रव्य, गुण, पर्याय का आधार वह ज्ञान ने जनाया।

वीर्य में परमात्म राजा को निष्पन्न रखने का भाव है [अर्थात् वीर्य गुण में परमात्म स्वभावी आत्मा को अखंडित प्रतापवंत-प्रगट प्रसिद्ध रखने का बल है।] वीर्य सबको (अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को) निष्पन्न (स्व-स्वरूप को प्राप्त) रखना है, वह ज्ञान ने जनाया। गुणों का भाव पर्याय भाव ज्ञान ने जनाया; इसलिये ज्ञान मंत्री सबका जनावनहार है। सबको ज्ञान द्वारा परमात्म राजा (चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य) जानता है। इसलिये यह जानता है कि मेरे ज्ञान मंत्री द्वारा मैं सब जानता हूँ। यह ज्ञान मंत्री सर्वोपरि प्रधान है इस ज्ञान मंत्री को अपना सर्वस्व सोंपा है। और विशेष अतीन्द्रिय आनन्द की ऋद्धि ज्ञान पाता है। ज्ञान से इस परमात्म राजा को ज्ञान मंत्री के सिवाय और कोई बड़ा नहीं। सर्वज्ञता इसी में संभवता है।

आगे चारित्र मंत्री परमात्मस्वरूप कैसे सेवन करता है।

परमातम राजा के जो कुछ राजरिद्धि का सद्भाव है। उतने भाव को चारित्र आचरता है, स्थिर रखता है। चारित्र मंत्री, ज्ञान के जानपना का आस्वादी होकर स्थिरतर रखे, आचरे। ज्ञान स्वसंवेदन भाव को धारण कर परमानन्द उत्पन्न करता है, वह चारित्र दर्शन में सर्वदर्शित्व शक्ति है।

स्वरूप को देखता है, परमात्म राजा को देखने से जो आनंद पाता है, स्थिरता भाव होते हैं, वह चारित्र से है।

वीर्य स्वसामर्थ्यरूप प्राप्ति की स्थिरता को पाते हैं, वह चारित्र से है। प्रमेय सत्ता आदि सबगुण स्थिरता को प्राप्त होते हैं, वह भी चारित्र से है। वेदकभाव सबका चारित्र करता है। चारित्र सब द्रव्य-गुण-पर्याय शक्ति लक्षण स्वरूपरूप सर्वस्व वेदता है, स्थिरता रखता है। चारित्रमंत्री से अपने घर की रिद्धि का जो सुख है, वह सुख परमात्म राजा विलास करता है।

जो चारित्र न होता तो अपनी राजधानी का सुख आप परमात्म-राजा न विलसता (न भोगता), क्योंकि यह रसास्वाद करने का अंग इस ही का है (-अर्थात् चारित्र का है) दूसरे का नहीं। राजा का पद सफल अनंत सुख से है, वह सुख इससे है, इसलिये यह राजपद की सफलता का कारण है। अर्थक्रिया-षट्कारक इससे (चारित्र मंत्री से) है। उत्पाद-व्यय, ध्रुवता में स्वरूप लाभ स्वभाव प्रच्यवन अवस्थित भाव इसके द्वारा सिद्ध होता है।

सब गुण की अनंत महिमा चारित्रगुण ने सफल की है। सबमें प्रवेश करके-अनुभवकर उनके स्वरूपभाव की प्रगटता कर वर्तता है। तब परमात्म राजा जानता है। इससे सबकी प्रकटता और रसास्वाद है। परम सुख इस ही के द्वारा होता है। इसके सिवा वेदकता नहीं, यह चारित्रमंत्री सब गुण को सफल करता है, इसके द्वारा मेरी गुणरूपी प्रजा का विलास है। और तो जो लक्षण रीति को धारण करता है, वह उस लक्षण की सफलता द्वारा परमातम राजा की राजधानी रखता है, इसलिये चारित्रमंत्री सब घर की निधि की सिद्धि करता है। बाह्य ही सिद्धि न करे किंतु उसके घर में प्रवेश कर उसकी निधि महिमा का विलास व्यक्त करता है, ऐसा चारित्र प्रधान है। चारित्र गुण किसी का आचरण न करे तो सब गुण की भेंट परमात्म राजा से हुई न हुई के बराबर है, तब निज प्रजा का अभाव भये राजा किसका कहलायेगा ? इसलिये चारित्र है, वह राजपद का रक्षक स्वभावी बड़ा मंत्री है।

विज्ञप्ति

अपूर्व अवसर पुस्तक का ०-८५ और पोस्टेज ०-३५ पैसे है, और सन्मति संदेश विशेषांक का १-० है पोस्टेज ०-२५ नये पैसे है, कुछ भाइयों ने मात्र पुस्तक की कीमत ही भेजी है और पोस्टेज का कम पैसा भेजा है। अत: ग्रंथ के लिये पोस्टेज सहित ही मूल्य भेजने की कृपा करें अथवा वी.पी. द्वारा बुलावें।

पर में कर्तृत्व का मूल अज्ञान

द्रव्य को परिणाम होता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य नित्य परिणामस्वभावी है। [परिणाम= परिणति, क्रिया, दशा, हालत, अवस्था, कार्य।] परिणाम, परिणामी द्रव्य के बिना नहीं होते; तो फिर परिणाम का कर्ता कौन ?—यदि ऐसा माना जाये कि परिणाम तो है, किंतु उसका कर्ता अन्य द्रव्य है; तो परिणाम अर्थात् कार्य का आधार गुण और ऐसे अनंतगुण का आधार द्रव्य स्वत:सिद्ध साबित नहीं होगा। द्रव्य का लक्षण सत् तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त जो सत्, वह भी सिद्ध नहीं होगा।

परिणाम प्रति समय नवीन-नवीन होते हैं; ऐसे अनंत परिणामों का समूह, सो गुण है और ऐसे अनंत गुणों का समूह सो द्रव्य है। जो जीव, परिणाम का कर्ता स्वद्रव्य को न मानकर परद्रव्य को मानता है, वह स्वगुण को और स्वद्रव्य को ही नहीं मानता।

वस्तुत: (सचमुच) प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनंत एवं स्वत: सिद्ध होने से उसके सत्तात्मक अनंत गुण और उसके प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिणाम स्वत: सिद्ध हैं—ऐसी उसकी स्वतंत्र मर्यादा है। 'वस्तु सीम्नो अनतिक्रमात,' 'स खलु अचलितस्य वस्तुस्थिति सीम्नो भेत्तुम् अशक्यत्वात्' (समयसार गाथा १०३ टीका) ऐसा त्रिकाल होने से पर से अकृत द्रव्य-गुण तथा पर्याय स्वयमेव अकृत्रिम हैं अर्थात् पर द्वारा किये जायें, ऐसे नहीं हैं।

दृष्टान्तरूप से—एक जीव को क्रोधादि परिणाम हुए और वे उसके ज्ञान में ज्ञात हुए; तथा स्वयं किये तो हुए, ऐसा स्पष्ट अनुभव से निर्णय होता है; तथापि जो उन्हें पर से-निमित्त से हुआ मानता है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय किसी को भी सत् अर्थात् स्वत: सिद्ध नहीं मानता। जिसप्रकार सांख्यादि मत में ईश्वर को लोक का कर्ता माना जाता है, वैसे ही निमित्त से पर का कर्तृत्व माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। उस कर्तृत्व का मूल अज्ञान है, जो स्वतंत्रता की हिंसा करनेवाला है।

(चर्चा के आधार से)

विज्ञप्ति

पूज्य गुरुदेव श्री के प्रवचनों का लाभ लेने के लिये यहाँ अनेक हिन्दी भाषी यात्री भी आते हैं किंतु उनके लिये यहाँ रहने-उतरने की कोई व्यवस्था नहीं थी। अत: हिन्दी भाषी यात्रियों के लिये एक यात्रिकाश्रम (धर्मशाला) बनवाने का विचार सोनगढ़ स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट ने किया है, उसके लिये एक फंड का प्रारम्भ किया है, उसमें निम्न रकम प्राप्त हुई है:—

१००१) श्री बाबूलाल बल्लभदास के मातुश्री गांव टिमरनी (म.प्र.)

टेप रेकोर्डिंग द्वारा प्रवचन प्रसार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के टेप रेकोर्डिंग प्रवचनों का प्रचार १४ मास से हो रहा है। जिस गांव से आमंत्रण आता है, वही श्री मधुकरजी को टेप रील मशीन सहित भेजा जाता है। इस दफे मद्रास एक मास बाद ठहरे, बाद बेंगलोर, भीलवाड़ा राजस्थान, सांभरलेक, फुलेरा होकर बडौत (जिला मेरठ) गये, वहाँ के दिगम्बर जैन समाज का आमंत्रण था, वहाँ १० दिन ठहरे थे, दिगम्बर जैन संघ के नाम से पत्रिका छपवा कर सबको प्रवचन का लाभ लेने का आमंत्रण दिया था, दिन में तीन बार सुनाने का प्रोग्राम था।

बडोत से दिल्ली गये वहाँ १५ दिन में अनेक जिन मंदिर आदि में प्रोग्राम रखा था, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा शहर में प्रवचन का लाभ लेने के लिये आमंत्रण पत्रिका छपाकर बांटी थी और बहुत मुमुक्षुओं ने लाभ लिया, उसके बाद मलकापुर गये वहाँ श्वेताम्बर भाइयों ने भी अच्छा लाभ लिया बाद दाहोद गये वहाँ तारीख ४-७-६२ से तारीख १०-७-६२ तक कार्यक्रम था, एक दिन श्वेताम्बर जैन समाज के प्रमुखश्री की माँग होने से उपासरे में टेप रील द्वारा प्रवचन सुनाया था। वहाँ से रखियाल (अहमदाबाद) गये, वहाँ तारीख २९-७-६२ तक का कार्यक्रम था, खास आसपास के गांव से धर्म जिज्ञासुओं ने रखियाल में आकर लाभ लिया। और गांव वाले जैन जैनेतर भाईयों ने अधिक संख्या में लाभ लिया। जिस गाँव के दिगम्बर जैन संघ व संस्था के नाम से आमंत्रण आता है, वहाँ भेजा जाता है। पत्र व्यवहार का पता:—

श्री प्रवचन प्रचार विभाग
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी-सोनगढ़ समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशान्ति में विराजमान हैं। सबेरे मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ६, दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र सर्वविशुद्धान अधिकार प्रवचन में है। अषाढ़ सुद ८ से १५ तक अष्टाह्निका पर्व में-नंदीश्वर द्वीप महामहोत्सव के दिनों में नंदीश्वर मंगल विधानपूजा, पंचमेरु-शाश्वत जिनालय आदि की पूजा बड़े उत्साहपूर्वक करने में आई थी, सुद १५ के दिन चाँदी की गंधकुटी ऊपर भगवान को विराजमान करके विधिसहित कलशाभिषेक उत्सव किया गया था।

श्रावण वद १ वीरशासन जयंति—श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने का प्रारंभ दिन अत्यंत उल्लासपूर्वक शास्त्र पूजा आदि द्वारा विशेष भक्ति से मनाया गया था। पूज्य स्वामीजी ने प्रवचन के समय भगवान श्री महावीर प्रभु को वैशाख सुद १० केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६६ दिन होने पर विपुलाचल पर धर्म सभा में दिव्यध्वनि का खिरना, श्री गौतमस्वामी को गणधर पद की प्राप्ति और गणधर द्वारा द्वादशांग की शास्त्र की रचना होना तथा वीर प्रभु की आत्म वीरता और महानता का भक्तिपूर्वक वर्णन किया था।

ग्राहकों को आवश्यक सूचना

कई ग्राहक आत्मधर्म अंक न मिलने की शिकायत और उन्हें भेजने की मांग कमल प्रिंटर्स के पते पर करते हैं, सो यहाँ पत्र नहीं देकर, आत्मधर्म कार्यालय पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र) को दिया करें। कारण बचे हुये अंक हम यहाँ से सोनगढ़ भेज देते हैं।

निवेदक—नेमीचंद बाकलीवाल, कमल प्रिंटर्स
मदनगंज-किशनगढ़

दसलक्षणपर्व

सोनगढ़ में हरसाल की भाँति भाद्र सुद पंचमी से सुद १४ तक १० दिन पर्यंत दसलक्षणधर्म अर्थात् पर्यूषणपर्व मनाया जायेगा। इन दिनों में उत्तम क्षमादि दसलक्षण धर्म पर तथा जिनेन्द्र भक्ति आदि विषय पर खास प्रवचन होता है। सुगंध दशमी आदि व्रत विधान मंडल विधान हरसाल माफिक ठाठबाट से होगा।

गुना में श्री अष्टाह्निका पर्व एवं वीरशासन जयंती महोत्सव

अषाढ़ सुद ८ से १५ तक स्थानीय दोनों जिनमंदिर में श्री सिद्धचक्र मंडल विधान श्री पंडित गेंदालालजी शास्त्री (बूँदी) एवं पण्डित बाबूलालजी अशोकनगर द्वारा जैन समाज में उत्साहपूर्वक समाप्त हुआ और बाजार के मंदिरजी पर श्री गेंदालालजी का सबेरे दोपहर और रात्रि को श्री सिद्धचक्र विधान का अध्यात्म से कितना संबंध है उस पर ११ दिन तक भावपूर्वक प्रवचन हुए। कार्य के प्रारंभ में ही देहली से श्री पण्डित प्रकाशचंद्रजी हितैषी (सम्पादक संमति संदेश) का लाभ मिला, उन्होंने भेदविज्ञान क्या है, उसे क्यों प्राप्त करना चाहिये और उसका फल क्या है इसको बड़ी सरल भाषा में समाज के सामने रखा। श्रावण वदि १ को पंडित गेंदालालजी शास्त्री ने वीरशासन को विश्व धर्म माना जाये इस पर प्रवचन किया। —केवलचंद पांड्या

(भोपाल, बम्बई, दिल्ली आदि अनेक स्थानों से उत्साह पूर्वक अष्टाह्निका तथा वीरशासन जयंती उत्सव मनाया गया, ऐसा समाचार है।)

श्री कुन्दकुन्द-कहान प्रकाशन मन्दिर
व्य० श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल-बम्बई के द्वारा

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी-परमअध्यात्मशास्त्र

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, संचालित श्री कुन्दकुन्द-कहान प्रकाशन मंदिर ठि० १७३-७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई-२।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो वह सर्वोत्तम मानी जाती है जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकान्त, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचन्द्राचार्य की सर्वोत्तम सं० टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है हिन्दी अनुवाद, दूसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुन्दर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें ऐसी भावनावश इस ग्रन्थाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार।

मंगाने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, उज्जैन, विदिशा, इन्दौर, जयपुर, गुना आदि गाँवों में दि० जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)
नियमसार	५ ॥)
समयसार पृष्ठ ६१६ बड़ा साइज	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥।)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ॥)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)
प्रवचनसार	५)
अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)
द्वितीय भाग	२)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)
द्वितीय भाग	॥–)
तृतीय भाग	॥–)
जैन बालपोथी	।)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
छहढाला (नई टीका)	॥ ।–)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	८५ न.पै.
भेदविज्ञानसार	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समाधितंत्र	२ ।=)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
स्तोत्रत्रयी	॥)
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
शासन प्रभाव	=)

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।